GLOBALCULTURZ Vol.I No.3 September-December 2020 ISSN:2582-6808
Article ID-2020110023 **Pages:** 249-252 **Language:** Hindi
Domain of Study: *Humanities & Social Sciences* **Sub-Domain:** *Literature-Short Story*

दुश्मन साथी

श्रध्दा थवाईत
एफ-5, पंकज विक्रम अपार्टमेंट शैलेन्द्र नगर, रायपुर, छत्तीसगढ़ (भारत)
E-mail: shraddhathawait@gmail.com

About the Author

जन्म तिथि: 01.01.1971
शिक्षा- एम.एस.सी. (वनस्पतिशास्त्र),
रुचियाँ- साहित्य के अध्ययन एवं लेखन में रुचि,
सम्प्रति- राज्य वित्त सेवा अधिकारी, छत्तीसगढ़

Note in English

A Short Story in Hindi

सूदूर बस्तर में, साल के इस घनघोर घने जंगल में, पथरीले पठार में फैले छोटे-बड़े, हरे-भरे पेड़ ही पेड़ नजर आते हैं. मीलों दूर चलने पर मिट्टी की, बमुश्किल चार फीट ऊँची छोटी-छोटी दीवारों पर, फर्शी पत्थर की छत वाली आठ-दस झोपड़ियां दिख जाती है. जो यहाँ का एक गाँव बन जाती है. मैं अपने शोध कार्य के लिए ऐसे ही एक गाँव की ऐसी ही एक झोपड़ी में रहता हूँ. एक सर्पीली सुनसान छह किलोमीटर की पगडण्डी ही मेरी इस दुनिया को बाहर की दुनिया की सड़क से जोड़ती है. कुछ भी सामान लेना हो तो लगभग पन्द्रह किलोमीटर दूर सड़क किनारे बसे कटे कल्याण गाँव के साप्ताहिक हाट में आना पड़ता है.

यहाँ के जीवन के दिल की धड़कन हैं ये साप्ताहिक हाट. उसदिन मैं भी हाट में चावल-दाल, नमक, सब्जी वगैरह लेने गया था. हाट में कई आड़ी-तिरछी पंक्तियों में लोग अपना सामान बेचने बैठे थे. मैं दाल-चावल ले कर आगे बढ़ा तो मैंने एक आदिवासी को एक कद्दू लेकर बैठे देखा. एक मांदर के जितना बड़ा कद्दू. कद्दू खाये अरसा बीत गया था. मैं उत्साहित हो उठा.

"कैसे दिये कद्दू?"

"पांच रुपये."

"एक किलो दे दो."

"…."

वह चुप रहा. हिला भी नहीं.

"एक किलो दे दो न."

"काटने को कुछ नहीं."

“तो फिर पांच रुपये किलो क्यों कह रहे हो. काटने का लेकर आना चाहिए न.” इच्छा पूरी न होते देख मैं झुंझलाया सा आगे बढ़ा.

“किलो नई बोला. पांच रुपये का है.”

मेरी आँखें चौंधिया गई.

“ये इतना बड़ा कद्दू पांच रुपये का है.”

“हां”

इस मांदर जैसे कद्दू को लेकर मांदर थोड़े न बजाता. कद्दू खाने की आस आखिर अधूरी ही रही. ‘कुछ अच्छा’ खाने की ललक जल उठी थी. मुझे अचानक चपोड़ा याद आया. सोचा कि आज चापड़ा की चटनी खा ही लेता हूँ. मैं चापड़ा लेकर बैठी आदिवासी औरतों की ओर बढ़ा.

वे बांस की खपच्चियों से बुनी टोकरियों में आम, साल के पेड़ में मिलने वाले लाल चींटे रखे बैठी थीं. जो गुत्थम-गुत्था, अधमरे से थे. पेड़ों से इन चींटों को धूप में तपाये पीपों में निकाल कर खूब हिलाया जाता है. संकट महसूस कर ये चींटे एक–दूसरे को ताबड़तोड़ काटते हैं और जहर के प्रभाव से अधमरे हो जाते हैं. इसकी चटनी यहाँ बहुत स्वाद लेकर खाई जाती है. आज मैंने भी इनसे एक दोना चापड़ा खरीद ही लिया.

अचानक बहुत से लोगों की जोर से चिल्लाने को आवाज आई. भीड़ ने एक बड़ा सा गोल बनाया हुआ था. जिसके अन्दर मुर्गों की लड़ाई चल रही थी. मुर्गों की लड़ाई यहाँ के मनोरंजन का लोकप्रिय माध्यम है. शोर के साथ मुर्गों की आवाज के घालमेल से मेरा मन वितृष्णा से भर गया.

हाट में मुर्गे खाने के लिए भी मिलते है और लड़ाने के लिए भी. दोनों के दिखने में उतना ही अंतर होता है जितना एक झोपड़ी के निस्तेज, कमजोर बच्चे में और एक बंगले के स्वास्थ्य धन से चमकते बच्चे में. इन लड़ाकू मुर्गों को देखते ही मुझे थाईलैंड के वे बच्चे भी दिखने लगते हैं. जिन्हें उनकी इच्छा के विपरीत उनके माता-पिता लड़ाई की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए मजबूर करते है. शायद इसीलिए मुझे मुर्गों की लड़ाई से नफ़रत है.

मुर्गों और उनकी लड़ाई देखने वालों का शोर बढ़ता जा रहा था. मैंने घड़ी देखी. जीप के आने में समय था लेकिन फिर भी मैं रोड पर आ कर खड़ा हो गया. हाट से गाँव की पगडंडी तक जाने के लिए सिर्फ एक जीप का आसरा है. यदि वह जीप निकल गई या भर गई तो पूरा रास्ता पैदल ही तय करना मजबूरी है. पहले से खड़े रहने पर सीट मिलने की भी संभावना होती है.

कुछ ही देर के इन्तजार के बाद जीप आ गई. जीप खचाखच भरी हुई थी. ड्राईवर भी आधा बाहर लटक कर जीप चला रहा था. जीप फेविकोल के विज्ञापन में दिखाये जाने वाले वाहन की तरह ही दिख रही थी. यहाँ गिरने पर मौत के भय के फेविकोल ने सबको जीप से चिपकाये रखा था. कुछ लोग उतरे. मैं पिछली सीट में मानों स्क्रू से कस दिया गया. अपने-अपने गाँव को वापसी के लिये आतुर बाकी लोग भी आगे-पीछे लटक गये. अब किसी के हाथ पांव हिलाने की कोई संभावना नहीं थी. खचाखच भरी जीप की दबी-कुचली हवा आदिम पसीने की गंध, लांदा, सल्फी के गंध के साथ मिल कर दमघोंटू हो चुकी थी. बाहर एक मुर्गा सप्तम सुर में अकड़ से भरी कर्कश तान छेड़े हुए था.

कुक्डूककूँ...कुक्डूककूँ...

इधर भीड़ के स्क्रू में कसे होने की परेशानी, दमघोंटू गंध दमघोंट रही थी उधर कूक्डूककूँ...की आवाज दिमाग में हथौड़े बरसाने लगी. जीप के पूरी तरह भर जाने के बाद

भी शायद छलकने का इंतजार था, जो जीप रवाना नहीं हो रही थी. किसी इंसान के ऊपर गुस्सा तो निकाल नहीं सकता था. कूक्डूककूँ...कूक्डूककूँ सुन ऐसा लग रहा था कि ये मुर्गा मेरे हाथ लगे तो मैं इसकी कूक्डूककूँ करती गर्दन ही मरोड़ दूं.

कूक्डूककूँ...कूक्डूककूँ... कोई तो इसे चुप कराये. जरूर यह कोई लड़ाकू मुर्गा होगा. क्या इसने पूरी दुनिया को जीत लिया है जो इस कदर कूक्डूककूँ... कर सबको खबर दिए जा रहा है? इस मुर्गे की कूक्डूककूँ की लगातार आवाज के कारण मेरी मुर्गों की लड़ाई से नफ़रत उस मुर्गे से नफरत में बदलने लगी थी.

तभी सामने से दूर जाती आवाज आई, ‘कूक्डूककूँ...’ मैंने देखा वह लड़ाकू मुर्गा ही था जो एक लूना में लूना की लम्बाई से डेढ़ गुने और उंचाई में दुगने लदे सामान के ऊपर रखी कुर्सी में बैठ ‘कूक्डूककूँ...’ करते चला जा रहा था. मैं उसे देख ईर्ष्या से जलभुन ही गया. यह मुर्गा सामानों के महल पर कुर्सी के सिहांसन में शान से विराजे, अकड़ में अपनी गर्दन घुमाते, ठंडी हवा खा रहा है और मैं बजबजाती गंध लेता हुआ ताजी हवा के एक-एक कतरे के लिए संघर्ष कर रहा हूँ. तभी मेरी जीप भी चल पड़ी और मुर्गे को पीछे छोड़ देने का आनंद मुझे मिल गया.

मैंने अपना ध्यान चावल और चापड़ा की चटनी के स्वादिष्ट रात्रिभोज की कल्पना में लगा लिया. गाँव पहुँच, मैंने रात्रिभोज तैयार किया. जैसे ही मैं पहला निवाला मुँह तक लाया कि आवाज आई. कूक्डूककूँ... भाग्य की लीला, मेरे ताजातरीन दुश्मन की मंजिल भी मेरा ही गाँव निकला. तब से मेरी गाँव की शांत जिंदगी के ताल में नियति कूक्डूककूँ... के कंकड़ मारे जा रही है. मुर्गा उस सारी रात रह-रह कर कुकडुक्कूँ करता रहा और मैं उन्हें सुनते हुए करवटें बदलता रहा.

अब तक गाँव में मेरी हर सुबह सूर्योदय के शांत वातावरण में होती थी. अब बाहर निकला तो मेरा दुश्मन शान से चहलकदमी करते अपने आगमन का एलान किये जा रहा था. मानो सबको चुनौती दे रहा हो. कुछ ही देर में फिजाओं में संघर्ष के बादल मंडराने लगे. गाँव के दूसरे मुर्गों के साथ वर्चस्व की लड़ाई थी. कुछ ही दिनों में गाँव में उसका वर्चस्व स्थापित हो गया. वह अपने हरम के साथ बादशाही ठाठ से घूमता. किसी की मजाल नहीं थी कि कोई उसके हरम की ओर तिरछी निगाह भी डाले.

मुझे सबसे पहले जीप के दमघोंटू भीड़ और गंध की बेचैनी में उसकी कूक्डूककूँ की कर्कश तान से परेशानी हुई थी पर धीरे से उसने मेरे दिमाग पर इतना अधिकार जमा लिया कि मुझे उसकी हर एक हरकत से चिढ़ होने लगी जैसे मैं कोई आदमी नहीं कोई मुर्गा हूँ और वह मेरा प्रतिद्वंद्वी

उसे भी शायद मुझे चिढ़ाने में मजा आता. वह सुबह सूरज की पहली किरण फूटने से पहले ही मेरी झोपड़ी की पथरीली छत पर चढ़ ख़ूढ-ख़ूढ करता, पहली बांग भी वहीं से देता. बस मेरे दिन के शुभारंभ से शुभ चला जाता. रंग में भंग पड़ जाता. मैं बाहर निकलता तो वह मेरे बाड़े में ही घूमते रहता. मैं उसे पत्थर मार भगाता पर मैं अपने काम में लगा नहीं कि वह फिर हाजिर.

एक बार मुझे उससे मुक्ति पाने का मौका मिलता दिखा तो मैं बहुत खुश हुआ था कि आज तो इसकी झूठी आन-बान-शान के धज्जे उड़ जायेंगे. दरअसल उसदिन जब वह अपने हरम के साथ शान से

चहलकदमी कर रहा था तभी एक कुत्ते ने उसके हरम की एक मुर्गी को पकड़ लिया. उसने कुत्ते पर हमला कर दिया. तब तक वह कुत्ते को चोंच मारने में लगा रहा जब तक कि कुत्ते ने मुर्गी को छोड़ न दिया. आखिर यह एक लड़ाकू मुर्गा था जिसका साहस असाधारण था.

तब से उससे सारी चिढ़ को दरकिनार करते हुए मैं उसका तो नहीं लेकिन उसके साहस का प्रशंसक हो गया था. दरअसल परेशानी मुर्गे में नहीं मेरे दिमाग में थी यदि मैं न चाहता तो वह मुझे तंग नहीं कर सकता था पर जैसे ही उसकी आवाज आती या वह मेरे सामने आता मेरा पारा चढ़ जाता. दिन में कभी-कभी जब मैं उसे भूल अपना शोध लिखने में रम जाता, तभी वह छापामार विद्रोही चुपके से मेरे कागजों पर अपने कदमों के निशान छोड़ देता और मैं कागज कितना ही जरुरी क्यों न हो उसे फाड़ने से खुद को रोक न पाता.

कभी मैं दिन भर तथ्यों, अनुभवों के संकलन के बाद रात के सन्नाटे में मैं लिखता होता अचानक वह बेसमय बांग देता गुस्से में मेरे लिखने की गति बढ़ जाती. कभी मैं ढिबरी की रोशनी में लिखने बैठता तो यह मुर्गों में आपवादिक निशाचर बन, मेरी झोपड़ी में घुस, कभी कीड़े कुरेदता तो कभी ढिबरी ही गिरा देता. मेरी मुर्गा लड़ाई से नफ़रत कायम थी लेकिन उसके बावजूद मैं शिद्दत से चाहने भी लगा था कि जल्दी से जल्दी यह मुर्गा लड़ाई में जाये, इसे नहले पर दहला मिले और मुझे पहले सी शांति.

वह दिन भी आया पर मेरी मुराद पूरी न हुई. बुरी तरह जख्मी हो जाने के बावजूद वह विजेता रहा. अब वह जख्मी हो, दिन भर अपने दड़बे में शांत बैठा रहता है. अब मैं बार-बार बाहर निकल कर उसके दड़बे को देखता हूँ. जाने क्यों? उसे ठीक-ठाक देख चैन की साँस लेता हूँ. शायद मुझे उससे तंग होने की आदत हो चुकी है. शायद मेरे दिमाग को उस पर चिढ़ से ऊर्जा मिलती थी. अब मेरे आसपास उसकी अनुपस्थिति में वह ऊर्जा भी कही विलीन हो गई है. मेरा शोध कार्य लगभग ठप्प पड़ा है. मैं इस इंतजार में हूँ कि मेरा दुश्मन जल्दी ठीक हो, फिर से इस निपट देहात में मेरे अकेलेपन का साथी बन जाये.